ISSN 2395-051X

मध्यप्रदेश में जैन मूर्तिकला का क्रमिक विकास

डॉ. रोचना जैन
अतिथि विद्वान इतिहास
शासकीय स्वशासी कन्या स्नातकोत्तर उत्कृष्टता महाविद्यालय, सागर (म. प्र.)

प्राचीन भारतीय मूर्तिकला का इतिहास अत्यंत रोचक है। मूर्ति निर्माण का इतिहास हड़प्पा सभ्यता के पुरातात्त्विक साक्ष्यों के अध्ययन से आद्यैतिहासिक काल तक जाता है। हड़प्पा सभ्यता के अवशेषों से प्रतिमा निर्माण की प्रारंभिक स्थिति का पता चलता है। किसी काल का सांस्कृतिक इतिहास जानने के लिये उस समय की मूर्तिकला का अध्ययन अत्यंत उपयोगी होता है। मूर्ति निर्माण के काल, पृष्ठभूमि तथा देवोपासना संबंधी बातों का ज्ञान मूर्तिकला के अवशेषों के अध्ययन से होता है।

प्रतिमा का निर्माण उपासक के द्वारा उपास्य को मूर्ति रूप में परिणत कर उसके स्वरूप में लीन हो जाने के लिये किया जाता है। जैन धर्म एक अनीश्वरवादी धर्म है। जैन धर्म में ईवर की कल्पना संसार के कर्ताधर्ता के रूप में नहीं की जाती है बल्कि उनके जैसे बनने की कल्पना की जाती है।

जैन धर्म में मूर्ति पूजा का इतिहास बहुत प्राचीन है। क्योंकि जैन साहित्य से प्राप्त विवरण इस बात के साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं । जिनसेन कृत आदिपुराण में अयोध्या नगरी में पांच जिनायतन के निर्माण का उल्लेख है जो इन्द्र द्वारा निर्मित थे जिनमें शाश्वत जिन विराजमान थे।[1]

जैन साहित्य से ज्ञात होता है कि जैन अनुयायी तीर्थंकरों के लोकोत्तर व्यक्तित्व से अत्यधिक प्रभावित थे। जब वे उपस्थित थे तब उनकी पूजा अर्चना के लिये जनमानस बड़ी संख्या में उनके पास पहुँचता था और जब वे जनता के बीच नहीं रहे तो लोगों ने उन तक अपनी श्रद्धा–भक्ति की भावनाएँ पहुंचाने के लिये उनसे जुड़ी कुछ चीजों में उनकी कल्पना की और उन प्रतीकों को पूजनीय माना। मूर्ति निर्माण की परम्परा की प्रारंभिक स्थिति आराध्य का प्रतीकात्मक अंकन है।

वर्तमान में जो मूर्तियाँ प्राप्त होती हैं वे मूर्ति निर्माण के कई चरणों को पार चुकी हैं। हो सकता है हम अपने आराध्य की प्रारंभिक मूर्तियों को पहचान ही ना पायें या हो सकता उसका स्वरूप कुछ भिन्न हो, जैसे 18वीं शती. की मूर्ति और 12वीं शती ई. की मूर्ति में मूर्तिगत विभिन्नतायें, 12वीं सदी ई. की मूर्ति से 6वीं शती ई. की मूर्ति की मूर्तिगत भिन्नता, 6वीं सदी ई. की प्रथम शती. ई की मूर्ति से भिन्नता, प्रथम सदी ई. की लोहनीपुर से प्राप्त मूर्ति से भिन्नता और लोहानीपुर की मूर्ति से हड़प्पा से प्राप्त मूर्ति से भिन्नता। इसका अगर गहन अध्ययन किया जाये तो मूर्ति निर्माण की परम्परा में दृष्टव्य विकास स्पष्ट रूप से सामने आयेगा और जो मूर्तिगत विशेषताएँ सामने आयेगी उनका अध्ययन स्पष्ट और सुग्राही होगा।

जिन मूर्ति निर्माण की सामान्य विशेषताओं और समय के साथ हुये विकास का ज्ञान पुरातात्त्विक साक्ष्यों के आधार पर किया जा सकता है किन्तु मूर्तियों में समय समय पर हुये परिवर्तनों का अध्ययन साहित्य

के अध्ययन से ही ज्ञात होता है। साहित्य का ज्ञान होने पर ही मूर्ति के साथ निर्मित अन्य शिल्पांकनो को हम जान पाते हैं और उनसे जुड़े कथानक के आधार पर मूर्ति को पहचान पाते हैं।

साहित्यिक तथा पुरातात्त्विक दृष्टि से अध्ययन करने पर प्रतिमाओं के सामान्य लक्षणों का ज्ञान हो जाता है। इन लक्षणों को देखकर यह निश्चित हो जाता है कि मूर्ति अपने आप में कई रूप लेकर निर्मित हुई है। मूर्ति ने कई पर्याय धारण किये हैं और कालक्रम से उसे कई संज्ञायें प्रदान की गई हैं जैसे - बिम्ब, विग्रह, प्रतिरूप, प्रतिकृति आदि।[2]

भारत में विभिन्न धर्मों के अंतर्गत प्रतिमा के निर्माण और उसकी प्रतिष्ठा इष्ट का साकार रूप मानी गई है। पाणिनी ने दो तरह की प्रतिमाओं का उल्लेख किया है। (1) जीविकार्थ (2) विक्रयार्थ। कालिदास ने प्रतिमा के सजीव लक्षणों की कल्पना गंगा यमुना को मानवीय रूप देकर की है।[3]

जैन प्रतिमा शास्त्र में जिन बिम्ब का इतिहास बहुत प्राचीन माना गया। आगम साहित्य में शाश्वत जिनों की स्थापना का उल्लेख है। शाश्वत जिनों के रूप में ऋषभ, महावीर, वारिषेण व चंद्रानन इन नामों का उल्लेख है जिनके मंदिर होते थे जहाँ उनकी पूजा अर्चना की जाती थी।[4]

प्राचीन भारतीय कला में कलाकार को धार्मिक नियमों का पालन करते हुए, कला का सृजन करते हुए कला की उत्कृष्ट भावना का प्रकटीकरण करते हुये दिखाया गया है। कलाकार को लक्षण तथा सौंदर्य के मध्य सामंजस्य स्थापित करना पड़ता था। धर्म में सौंदर्य का संयमित कल्याणप्रद रूप प्रस्तुत करना स्वीकार था। कलाकार अपनी रचना को प्रभावशाली रूप में प्रस्तुत करता था और अपनी कृति में प्रतिमाशास्त्रीय लक्षणों का पालन कठोरता से करता था।

जैन धर्म में प्रतिमा निर्माण और उसकी पूजा का इतिहास अत्यधिक प्राचीन है। ज्ञात साक्ष्य लौहानीपुर, चौसा, बक्सर और कंकाली टीला से प्राप्त मूर्तियों के अध्ययन से अनेक विद्वान इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि मूर्ति निर्माण की परम्परा सर्वप्रथम जैन धर्म से प्रारंभ हुई ।

जैन प्रतिमाओं की प्राचीनता पर विद्वानों में मतभेद हैं। कई विद्वान जैन प्रतिमाओं की प्राचीनता हड़प्पा काल से मानते हैं।[7] जैन प्रतिमाओं को भारतीय मूर्तिकला में एक विशिष्ट स्थान प्राप्त है। ये प्रतिमाएँ अन्य धार्मिक सम्प्रदायों की प्रतिमाओं से भिन्न हैं। जैन प्रतिमा विज्ञान में तीर्थंकर प्रतिमाओं की स्थापना और उनकी पूजा के लिये मूर्ति निर्माण की परम्परा विकसित हुई। बी.सी. भट्टाचार्य के अनुसार "जैनों में प्रतिमा का उद्भव निःसंदेह तीर्थंकरों से हुआ प्रतीत होता है।"[5] प्रतिमा का मुख्य विषय अपने अनुयायियों को उस मार्ग का स्मरण कराना था जिस पर चलकर वे तीर्थंकरों के आदर्शों का पालन कर सकते थे। इसी भावना से प्रतिमा की पूजा का विधान प्रचलित हुआ।

परवर्ती काल में मूर्ति पूजा का महत्व अत्यधिक बढ़ जाने से मूर्ति निर्माण वृहद पैमाने पर होने लगा। मौर्यकाल, शुंगकाल, सातवाहन काल, भारशिव नाग, गुप्तकाल, गुप्तोत्तर काल, प्रतिहार, राष्ट्रकूट, चंदेल, परमार, होयसल, पाण्डेय, कलचुरी, दक्षिण भारतीय राजवंशों के शासन काल में प्रभूत संख्या में जैन मूर्तियों का निर्माण हुआ और मूर्ति निर्माण के नियम निर्धारित किये गये। प्रतिमा के स्वरूप, आसन, सामग्री, प्रतिमामान, दीक्षावृक्ष, मुद्राएँ, शासन देवी देवता, समवशरण, बाहुबली, पंच परमेष्ठी आदि से संबंधित प्रतिमा लक्षणों का निर्धारण किया गया। मध्यप्रदेश में जैन धर्म के साक्ष्य गुप्त काल से ही प्राप्त होते हैं। अतः मध्यप्रदेश में जैन

धर्म का विकास काल गुप्त काल से ही माना जाता है। गुप्त काल में जैन धर्म के अनेक केन्द्र विद्यमान थे। जैसे अवन्ति, वेसनगर, उदयगिरी, नाचना की पहाड़ी, सीरा पहाड़ी आदि। इन स्थानों से गुप्त कालीन मूर्तिकला के श्रेष्ठ अवशेष प्राप्त हुये हैं। इन अवशेषों से गुप्तकालीन जैन मूर्तिकला की विशेषताओं का ज्ञान होता है। गुप्त काल में जैन मूर्तिकला से संबंधित नियमों का सर्वप्रथम निरूपण हुआ।

वृहत संहिता (वराहमिहिरकृत) में जैन मूर्तियों की लाक्षणिक विशेषताओं का वर्णन किया गया है।

"अजान लंब बाहुः श्रीवत्सांकः प्रशान्त मूर्तिश्च।
दिग्वासस्तरूणे रूपवांश्च कार्योर्हतां देवः।।"[6]

तरूण रूप, आजान लंबबाहु, श्रीवत्स का अंकन, सिर पर जटा जूट, वस्त्रों का अभाव, आभूषणों का अभाव, प्रशांत मुद्रा, आसन पर विराजित जिन, चिन्हों का अंकन, कायोत्सर्ग मुद्रा और ध्यान मुद्रा, अलंकृत प्रभामण्डल अष्ट प्रातिहार्य का अंकन, यक्ष यक्षियों का अंकन धर्म चक्र का अंकन परिकर एवं सिंहासन के छोरों पर लघु जिन प्रतिमाओं का अंकन आदि गुप्त कालीन मूर्तियों में दृष्टव्य है।[7]

गुर्जर प्रतिहार वंश का शासन मध्यप्रदेश में 8वीं सदी से प्रारंभ होता है। मध्यप्रदेश में इस कालखण्ड में साधुओं और श्रेष्ठियों के माध्यम से जैन धर्म का प्रचार-प्रसार और निर्माण कार्य बहुलता से हुये। देवगढ़ की जैन कला और स्थापत्य का मध्यप्रदेश की कला पर व्यापक प्रभाव पड़ा। गुर्जर प्रतिहार काल में विदिशा, चंदेरी, थूबोन, सिरोंज, की कला पर देवगढ़ का प्रभाव है। विदिशा का माला देवी मंदिर गड़रमल मंदिर, जबलपुर के तिगवा ग्राम से 8वीं सदी की मूर्ति प्राप्त हुई है। ये सब प्रतिहार शासनकाल में जैन धर्म के प्रचार के साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं। गुर्जर प्रतिहारों का शासन मालवा और बुन्देलखण्ड के कुछ क्षेत्रों पर था। गुर्जर प्रतिहारों के शासन काल में यशोवर्मन के पुत्र आम द्वारा ग्वालियर के गोपालचलगढ़ को सन् 750 ई. के लगभग अपनी राजधानी बनाया तथा जैन संत बप्प भट्टि का शिष्यत्व ग्रहण किया। उसने अनेक जैन मंदिरों का निर्माण करवाया। आम को नागभट्ट द्वितीय माना जाता है। इसने ग्वालियर में 23 हाथ की महावीर प्रतिमा की स्थापना की तथा बप्प भट्टि ने उसकी प्रतिष्ठा की।[8] प्रतिहार शासक भोज देव के शासन काल में वज्रदामन नामक साधु ने 977 ई. में जैन मूर्ति की प्रतिष्ठा कर उसे स्थापित किया था।[9]

बड़ोह नगर का सर्वाधिक महत्वपूर्ण अवशेष 'गड़रमल मंदिर' है। गड़रमल मंदिर प्रतिहार कालीन कला का नमूना है। सन् 700 ई. से 1000 ई. तक मध्यप्रदेश में भट्टारकों द्वारा जैन धर्म का प्रसार किया गया। इन भट्टारकों ने अनेक निर्माण करवाये। इस कालखण्ड में प्रतिहार राजवंश का शासन मध्यप्रदेश के भू-भाग पर था।

900-1200 तक कलचुरियों के शासन काल में कौशल और दक्षिण कौशल में जैन धर्म का प्रसार हुआ। कलचुरियों के समय में जैन धर्म का बहुत प्रसार हुआ। इस काल के जैन स्मारक बड़ी संख्या में प्राप्त हुये हैं। कारीतलाई, बोहरीवंद, कोनीजी, लखनादौन, मुक्तागिर आदि कलचुरियों के शासन काल के प्रमुख जैन केन्द्र हैं। इन केन्द्रों के मूर्ति लेखों से कलचुरी काल में जैन संतों और श्रावकों द्वारा जैन धर्म के विकास का परिज्ञान होता है।[10]

जैन प्रतिमा विज्ञान में समय के साथ हुये विकास का सटीक ज्ञान हो जाता है। जैन प्रतिमाओं के प्रारंभिक लक्षण जिनमें सादा और वेडोल प्रतिमाएँ हैं। समय के साथ प्रतिमाओं के निर्माण में सुधार हुआ। भव्य

ISSN 2395-051X

और सुंदर प्रतिमाएँ निर्मित होने लगी। गुप्तकाल के जितने भी शिल्पाँकन हैं अत्यंत कलापूर्ण और प्रद्भावोत्पादक हैं। गुप्तकालीन कुशलता और भव्यता दृष्टव्य है। परिकर में कलात्मकता और आध्यात्मिकता का समावेश है। गुप्त और गुप्तोत्तर काल में जैन मूर्तियों पर गुप्तकालीन प्रभाव रहा। कला का विकास हुआ वृहद पैमाने पर शिल्पाँकन हुआ और सौंदर्य और कलात्मकता ने आध्यात्मिकता को गौण कर दिया और आगे 8वीं-9वीं सदी में यक्ष, यक्षी, महादेवियों और विभिन्न देवों का शिल्पाँकन प्रभूत मात्र में हुआ जिससे हमें मूर्तिकला पर तंत्र का प्रभाव दिखाई देता है। 11वीं-12वीं शताब्दी में मूर्तियों के निर्माण में विशालता के दर्शन होने लगे। मूर्तियाँ अत्यंत विशाल आकार में निर्मित होने लगी। विशालता ने भावों को तिलांजली दे दी। प्रतिमाओं का निर्माण स्थानीय शैलियों में किया जाने लगा। परमार, कलचुरी, चंदेल आदि कालों में जैन प्रतिमा विज्ञान में विविधता आई और इस समय की जैन मूर्तियों पर इन राजवंशों द्वारा स्थापित कला आयामों का प्रभाव कला पर दिखा। समय की हलचल और राजवंशों की अस्थिरता का दर्शन भी प्रतिमाओं में द्रष्टव्य है। इस समय कलात्मकता का ह्रास हुआ किन्तु कुछ क्षेत्रों में कला का विकास जारी रहा जैसे ग्वालियर क्षेत्र।

ग्वालियर के आसपास के क्षेत्र थूबोन, चंदेरी, खण्दारगिरी आदि में भव्य और विशाल शिल्पांकन हुये। 16वी, 17वीं शती ई. में जैन प्रतिमा विज्ञान से कलात्मकता विलुप्त हो गई उसमें सादगी और सौम्यता का समावेश हुआ। कलाकार ने शिल्प के स्थान पर स्थापत्य को अपने कर्तव्य में महत्व दिया। इस समय मध्यप्रदेश में अनेक क्षेत्रों का विकास हुआ - नैनागिर, सोनागिर, द्रोणागिर, रहली पटनागंज आदि। 17वीं—18वीं शताब्दी में जैन प्रतिमा विज्ञान में स्थिरता आई और मूर्ति निर्माण में कोई परिवर्तन द्रष्टव्य नहीं हुआ। जैन प्रतिमाओं में धातु व पाषाण के स्थान पर इमारती पत्थर संगमरमर ग्रेनाइट आदि का प्रयोग बढ़ा। 18वीं शती ई. तक जैन धर्म के केन्द्र और नगरों में अत्यधिक बदलाव आया और पुराने क्षेत्रों का ह्रास हुआ। पुराने क्षेत्रों के अवशेष प्रतिदिन सामने आ रहे हैं जिनका संरक्षण सरकार और समाज द्वारा किया जा रहा है। 20वीं-21वीं शताब्दी में मूर्तिकला में भव्यता, विशालता एवं प्रचुरता के दर्शन होते हैं।

मध्यप्रदेश की मूर्तिकला में प्रारंभिक मूर्तियों में मूर्ति के पादपीठ पर तीर्थंकर का नाम अभिलिखित पाया गया। समय के साथ मूर्तियों की पहचान के लिये लांछन का प्रयोग होने लगा। तीर्थंकर मूर्तियां सदैव ध्यानावस्था में पाईं गईं। कायोत्सर्ग तथा पद्मासन दोनों ही ध्यान के आसन हैं। उनकी मुद्रा वीतराग मुद्रा है। समय के साथ मूर्ति निर्माण शैली में उत्तरोत्तर विकास देखने को मिलता है। केश घुँघराले या उष्णीण के रूप में सजाये गये हैं। तीर्थंकरों के साथ इंद्र, इंद्राणी, तीर्थंकरों के अनुचर देवता, चँवरधारी, यक्ष, यक्षी, नाग नागी, देवी सरस्वती, नवग्रह, कृष्ण बलराम, सामान्य नर नारी आदि की प्रतिमाएँ भी निर्मित हुईं हैं। तीर्थंकरों के जीवन चरित्र से संबंधित अलंकरण, प्राकृतिक दृश्यों और समकालीन घटनाक्रमों का अँकन मिलता है। मूर्तियों के निर्माण में मंगल चिन्हो का अंकन तीर्थंकरों को अतिमानवीय व्यक्तित्व के रूप में प्रस्तुत करता है।

अध्ययन से कुछ सामान्य विशेषताएँ जिनमें परिवर्तन ना के बराबर हुआ है और कुछ सदा परिवर्तनशील रही है। उन पर ध्यान जाता है। तीर्थंकर मूर्तियों की मुख मुद्रा की सौम्यता तथा आध्यात्मिकता अपरिवर्तनशील रही। तीर्थंकरों का परिकर सदा परिवर्तनशील रहा। तीर्थंकर प्रतिमओं में लांछन का निर्धारण होने के पश्चात हमेशा प्रतिमाओं के प्रमुख पहचान चिन्ह बने और उनमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ। वक्ष पर श्रीवत्स, लंबकर्ण आदि विशेषताएँ अपरिवर्तनशील रहीं। पाषाण के स्थान पर संगमरमर तथा धातु का प्रयोग

उत्तरोत्तर बढ़ता गया। मूर्ति निर्माण में निरंतरता बनी रही। हाँ समय का प्रभाव अवश्य दिखाई देता है। अस्थिरता के काल में मूर्तिकला में अस्थिरता का दर्शन और कला में गिरावट का दर्शन भी होता है। फिर भी मूर्तियों का निर्माण और प्रतिष्ठा में निरंतरता रही।

संदर्भ

1 जैन, बलभद्र, जैन धर्म का प्राचीन इतिहास, पृष्ठ 17

2 वाजपेयी, मधुलिका, मध्यप्रदेश में जैन धर्म का विकास, पृष्ठ 171

3 कुमार संभव, 5, पृष्ठ 36

4 जैन, बलभद्र, पूर्वक्त, पृष्ठ 17

5 चन्द्रा, रामप्रसाद, शोध लेख मार्डन रिव्यू, 1932 , पृष्ठ 156-158

6 वृहत्संहिता 58, 45, (वराहमिहरि कृत)

7 आशाधर, प्रतिष्ठा सारोद्धार, पृष्ठ 162

8 वास्तु सार प्रकरण, 2, 8

9 तिल्लोयपण्णति, 4, 588, पृष्ठ 217

10 आवश्यक निर्युक्ति, गाथा 376-77